हिंदी से ही पटेगी विज्ञान और समाज के बीच की खाई

▯ जयंत विष्णु नार्लीकर

हिंदी के प्रति आत्मीयता महसूस करने वाले एक वैज्ञानिक की हैसियत से मैं यहां कुछ विचार व्यक्त करना चाहूंगा.

सर्वप्रथम मैं आपको एक उद्धरण सुनाता हूं– '...दीर्घकाल के पश्चात आज हमें संसार में बड़े पैमाने पर द्वेष, पापाचरण, असत्य का बोलबाला आदि दुर्गुण दिखाई दे रहे हैं. भक्तिभाव तो नष्टप्राय ही है. सचाई और सादगी तो मज़ाक के विषय बन गये हैं. न्याय भी नाममात्र शेष है. सभी जगह घोटाले चल रहे हैं, मानो समाज किंकर्तव्यविमूढ़ हो चला है. योजना के अनुसार तो कुछ भी नहीं हो रहा...'

मैं आपसे पूछता हूं कि यह वक्तव्य किसने दिया, कब दिया, कहां दिया? शायद आप कहेंगे कि यह आज के किसी समाचारपत्र का सम्पादकीय है... या किसी सज्जन धर्मात्मा की आधुनिक माहौल पर टिप्पणी है. यदि आप ऐसा सोच रहे हों तो आपका अनुमान गलत है.

इस उद्धरण के लिए आपको जाना होगा भूतकाल में, यूरोप में. लुई ले रॉय नामक फ्रांसीसी विचारक ने अपनी पुस्तक 'विसिस्ट्यूड' (स्थित्यंतर) में ये विचार व्यक्त किये थे. सन् 1575 में प्रकाशित यह पुस्तक तत्कालीन पाठकों में काफी लोकप्रिय एवं चर्चित रही. इसलिए यह मानना अनुचित नहीं होगा कि ये विचार उस ज़माने की धारणा के द्योतक हैं. तो फिर ऐसी धारणा की वजह क्या थी?

हम उस ज़माने का इतिहास पढ़ें तो हमें पता चलेगा कि आज के विज्ञान-युग का वह उषा काल था. चुम्बक की सहायता से विश्व के दूर-दूर के कोनों तक जाने के प्रयास हो रहे थे. युद्धों को अधिक विनाशकारी बनाने वाले गोला-बारूद भी तब प्रचार में थे. दूर-दूर की यात्राओं ने सम्पर्क बढ़ाया, उसी तरह सम्पर्कजन्य रोगों को भी बढ़ावा दिया. मुद्रण की तकनीक ने विचारों को फैलाने में हाथ बंटाया. पर इसके साथ ही परम्परागत विचारों का नयी विचारधाराओं से संघर्ष भी कराया. ऐसे गतिशील माहौल में नव-निर्माण युग की शुरुआत हुई जिसने यूरोप को साहित्य-संगीत-कला में विश्व का केंद्र-स्थान बहाल किया. आज सिंहावलोकन में हम उस युग को यूरोप का स्वर्ण युग मानते हैं.

इस नवनिर्माण की प्रसूति वेदनाओं को एक 'असुरक्षित' दृष्टिकोण से ले रॉय जैसे तत्कालीन विचारकों ने देखा. नयी खोजों, नयी तकनीक, नये विचार इन सबके माध्यम से समाज में मूलभूत परिवर्तन होने जा रहे थे, जिन्हें समझने में जनसाधारण ही नहीं, ले रॉय सदृश बुद्धिजीवी भी असफल रहे.

मैंने आज यह उदाहरण इसलिए दिया कि कुछ वैसा ही माहौल आज है. आधुनिक मानव समाज भी विज्ञान और तकनीक की घुड़दौड़ में उन्नति और विकास के नाम पर विभिन्न दिशाओं में खिंचाव और दबाव महसूस कर रहा है. उदाहरण स्वरूप मैं दो घटनाओं का जिक्र करूंगा. पहला उदाहरण है 1964 का, कैल टेक संस्थान का. उस वर्ष के अक्टूबर में शुरू होने वाले सत्र में मैं अभ्यागत वैज्ञानिक की हैसियत से कैलिफोर्निया इंस्टिट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी में गया था. मेरी भेंट के दौरान मुझे दो विख्यात हस्तियों के बीच चर्चा सुनने का मौका मिला. यह एक सार्वजनिक कार्यक्रम था और वक्ता थे वैज्ञानिक फ्रेड हॉएल एवं विज्ञान कथा लेखक रे ब्रैडबरी. चर्चा का विषय था– 'क्या विज्ञान गल्प भविष्यदर्शी होते हैं या समाज को झकझोरने वाले असंस्कृत माध्यम?' इस चर्चा में रे ब्रैडबरी द्वारा कही एक बात मुझे आज भी याद आ रही है. वे बोले "मेरा जन्म 1920 का है, यानी पहले विश्वयुद्ध के पश्चात का. तब से लेकर आज तक मैंने अपने जीवन में विज्ञान के जो नये-नये अनुसंधान देखे हैं, वे मेरे जन्म के समय गल्प में गिने जाते थे." सचमुच, परमाणु विस्फोट, चंद्रमा पर मानव चरण, एंटी बायोटिक दवाइयां, टेलीविजन, कम्प्यूटर आदि 1920 में कल्पना विलास के भाग रहे थे. इतनी शीघ्रता से गल्प की वास्तविकता में परिणति होगी यह उस समय किसने सोचा था!

स्थित्यंतर का दूसरा नमूना आल्विन टॉफ्लर की पुस्तक 'दि फ्यूचर शॉक' में देखने को मिलता है. यह पुस्तक आज से कोई चार दशक पहले लिखी गयी. लेखक ने वैज्ञानिक अनुसंधान और उनके तकनीक में रूपांतर की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए यह प्रतिपादन किया है कि इस क्रिया का वेग शुरू-शुरू में धीमा था, पर कालानुसार चक्रवृद्धि ब्याज की तरह बढ़ता गया. इसकी कुछ मिसाल देखें. यदि हम आदि मानव काल से लेकर आज ('आज' का मतलब लगभग 1970 से लेना होगा जब पुस्तक लिखी गयी.) के ज्ञात इतिहास काल को 50,000 वर्ष मानकर उसका 800 कालखंडों में विभाजन करें, तो एक खंड 625 वर्षों का हुआ. इसे मानव जीवनी का एक पैमाना लेकर लेखक ने कहा है कि 800 में से 650 पहली मानव-जीवनियां मानव ने गुफाओं में रहकर बितायीं. लेखन कला का प्रादुर्भाव पिछली 70 जीवनियों में हुआ तथा मुद्रण तकनीक का पिछली 6-7 जीवनियों में. जिस बिजली पर हमारा आधुनिक जीवन चलता है, वह केवल पिछली दो जीवनियों से कार्यरत है. अंतरिक्ष विज्ञान, कम्प्यूटर तथा परमाणु ऊर्जा का उपयोग ये सब (1970 के दृष्टिकोण से) तो केवल आधी जीवनियों

के अरसे से परिचित हैं. यदि हम सोचें तो ऐसे पायेंगे कि दिनचर्या में हमारा सम्पर्क जिन-जिन वस्तुओं से बनता है वे सब मात्र एक-दो जीवनी पुरानी हैं.

ये उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि मानव संस्कृति के इतिहास में साहित्य-संगीत-कला के मुकाबले में विज्ञान कम अरसे से आया है, तो भी आज उसका प्रभाव सर्वाधिक है और बढ़ता जा रहा है. विज्ञान और तकनीक द्वारा दिनों दिन नयी-नयी चीज़ें हमारे जीवन में प्रवेश कर रही हैं. इस शीघ्र बदलते माहौल में मानव चकरा-सा गया है, जैसे कोई बफे भोजन का भोक्ता, जिसे खाद्य टेबल पर नये-नये पकवान आते दिखाई देते हों. ऐसी स्थिति में यदि वह संयम से काम न करे तो आगे चलकर उसे बीमारियों का सामना करना पड़ेगा. अब हम देखेंगे भविष्य के कुछ चित्र, जो आगे आने वाले 'पकवानों' की झलकें प्रस्तुत करते हैं.

कम्प्यूटर की महत्ता दिनोंदिन बढ़ रही है. मूर का नियम कहता है कि तकनीक की तरक्की की बदौलत हर दो वर्ष में गणन क्षमता दुगुनी हो जाती है. 1950 के मुकाबले 1965 के कम्प्यूटर हज़ार गुने शक्तिशाली थे, तो 1980 के कम्प्यूटर दस लाख गुने, और उनके मुकाबले 2005 के एक अरब गुने! बढ़ती क्षमता के साथ-साथ कम्प्यूटर का आकार घटता जाता है. 1950 का कम्प्यूटर एक बड़े हॉल जितनी जगह लेता था. अब उससे दस अरब गुने क्षमता के कम्प्यूटर हथेली में समा जाएं, वो भी निकट भविष्य में, तो अचरज की बात नहीं होगी.

मोबाइल फोन की तकनीक की बढ़ती कमान से हम सभी परिचित हैं. 30-40 वर्ग सेंटीमीटर मोटाई के इस फोन में आजकल कितने विविध साधन भरे हैं— जैसे फोटो कैमरा, वीडियो, रेडियो, टीवी, इंटरनेट इत्यादि. अधिकाधिक जानकारी देने वाले अन्य उपकरण कुछ ही सालों में उपलब्ध होंगे. टेली कॉन्फ्रेंसिंग, दूरशिक्षा, पुस्तकालय, संदर्भ आदि ऐसे उपकरणों द्वारा सम्भव होंगे.

बीसवीं शताब्दी में इलेक्ट्रॉनिक्स ने तरक्की कर उपकरणों की दुनिया में बाजी मारी. अब वह दिन भी दूर नहीं जब उसकी जगह फोटॉनिक्स अपना प्रभाव दिखायेगा.

चुम्बकीय शक्ति द्वारा उठायी गयी हवा में चलने वाली रेलगाड़ियां मुम्बई से दिल्ली की दूरी महज तीन घंटों में तथा लंडन से न्यूयार्क की दूरी दस घंटों में तय करेंगी. हवाई जहाज भी 1000 यात्रियों को लेकर प्रतिघंटा 3000 कि.मी. से अधिक यानी ध्वनि के तिगुने वेग से यात्रा करेंगे और जहां व्यक्तिगत यातायात के साधन हैं, उनमें सौर ऊर्जा पर चलने वाली गाड़ियां पेट्रोल वाली मोटरकारों का स्थान लेंगी और जी.पी.एस. तथा दूर के उपग्रहों द्वारा लिये विहंगम चित्र इन 'अत्याधुनिक' गाड़ियों को गंतव्य स्थान पर यांत्रिक चालक के हाथों पहुंचा देंगे. अभी-अभी मानव जीनॉम परियोजना पूरी हुई. विविध स्तरों पर इसे आगे बढ़ाया जाएगा. वह दिन भी दूर नहीं जब हर मानव अपनी जीन्स का (अपनी शरीर-रचना का) पूरा मानचित्र साथ रखेगा.

स्थित्यंतर का आज का माहौल और भविष्य की ये झांकियां हमें चौकन्ने रहने की सलाह दें तो अचरज की बात नहीं. जैसे ले रॉय ने चार-पांच सदी पहले अनुभव किया, आज का समाज भी विज्ञान-तकनीक द्वारा परोसे जाने वाली अनुसंधानों की दावत पचा नहीं पा रहा है. इसलिए मानव समाज के आगे कुछ गम्भीर प्रश्न उपस्थित हुए हैं. इनमें से कुछ का ज़िक्र मैं यहां करना चाहूंगा.

बढ़ते औद्योगिकीकरण ने, वह भी पर्याप्त सावधानियां न बरतने के कारण, हमें ऐसी स्थिति में ला दिया है कि हमारी पृथ्वी पर रहना मुश्किल होता जा रहा है. सूर्य प्रकाश, शुद्ध हवा और पीने का पानी इन तीन मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति दिनों-दिन अधिक कठिन होती जा रही है. एक ओर औद्योगिकीकरण से अपना जीवन स्तर उठाने का प्रयत्न और दूसरी ओर इस कारण होने वाली पर्यावरण की हानि— इस कैंची में फंसा मानव समाज कुछ अप्रिय, पर आवश्यक निर्णय नहीं ले पा रहा है.

'क्लोनिंग' के उदाहरण ने डॉली भेड़ का चमत्कार भले ही प्रस्तुत किया हो, उसके साथ ही अनेक गम्भीर प्रश्न भी सामने लाये. जीवशास्त्र की अपनी तकनीक जहां मंगलदायी सिद्ध हुई, वहीं विध्वंसक शस्त्रास्त्र, वंशवाद के दुष्परिणाम, प्रकृति के कारोबार से छेड़खानी जैसे चिंताजनक रूपों में भी प्रकट हुई. मुक्त समाज मानव जिज्ञासा पूर्ति के लिए किये जाने वाले अनुसंधान को प्रोत्साहित करता आया है. पर अब सवाल उठता है, क्या अनुसंधान की कुछ दिशाओं पर समाज कल्याण को ध्यान में रखते हुह पाबंदी की ज़रूरत है?

जैसे-जैसे यंत्रावलम्बन बढ़ता गया, जो काम पहले मानव करते थे वे अब यंत्रों द्वारा अधिक तेज़ और कम त्रुटियों वाले किये जाने लगे. इससे उत्पादन बढ़ा और सुधरा, पर अधिकाधिक मानव बेकारी का अनुभव करने लगे. ऐसे लोगों का वक्त सकारात्मक रूप से नहीं व्यतीत होता, बल्कि मानसिक बीमारियों, अपराध, पापकर्म आदि में गुज़रता है. इस प्रवृत्ति को कैसे रोका जाए?

यह स्पष्ट है कि बिगड़ते माहौल पर काबू पाने के लिए मानव-समाज को सोच समझकर 'सही' निर्णय लेने हैं और 'सही' एवं 'गलत' का भेद समझने के लिए जिस नीर-क्षीर-विवेक की ज़रूरत है वह हम सबको वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की सलाह देता है.

स्वतंत्रता पूर्व काल में, अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण को तत्कालीन भारतीय जनता नहीं अपना रही थी और बिना सोचे-समझे पारम्परिक रूढ़ियों का पालन कर रही थी, क्योंकि देश उस समय गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा था. उनकी यह आशा थी कि स्वतंत्र भारत की जनता खुद विचार कर योग्य निर्णय लेना सीखेगी. पर ऐसा नहीं हुआ. 1940 में जिस प्रकार जनमानस पटल पर अंधश्रद्धाओं का राज था, उसी प्रकार आज भी है. इसकी कुछ मिसाल देखें— 'ग्रहों में मानव जीवन पर असर डालने की शक्ति है', इस कथन को मानकर चलना. 'पत्रिका जमे तो विवाह सुखी', इस कथन को मानकर चलना. 'किसी व्यक्ति ने कोई चमत्कार कर दिखाया तो उसमें दिव्य शक्ति है', ऐसा मानना. 'घर की बनावट कैसी है उसका रहने वाले के

जीवन पर परिणाम होता है', इस पर विश्वास. 'गणेशजी दूध पी रहे हैं', इस घटना को वास्तविकता परखे बिना स्वीकार करना इत्यादि, इत्यादि... आज विज्ञान के समाज पर होने वाले भले-बुरे परिणामों को परखने, और ज़रूरत हो वहां उन पर उचित कार्यवाही करने, के लिए समाज के पास वैज्ञानिक दृष्टिकोण होना अत्यावश्यक है.

> ...पर चर्चा के दौरान अगर आइन्स्टाइन बहुत उत्तेजित हो जाते तो वे अपनी मातृभाषा जर्मन में बोलने लगते थे. अपनी मातृभाषा में कोई भी व्यक्ति समझने-समझाने का काम सर्वाधिक कुशलता से कर पाता है.

पूरी गीता समझाने के बाद भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्यात् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतत् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।

(मैंने तुम्हें गुह्य से गुह्य सुनाया है. उस पर पूरी तरह विचार-विमर्श करके जो करना चाहते हो वह करो.)

यहां वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सार हम देखते हैं. कृष्ण यह नहीं चाहते कि केवल उनके जैसे महान व्यक्ति के कहने पर अर्जुन उनकी सलाह मानकर चलें. वे उलटे यह अपेक्षा रखते हैं कि उनकी बातों पर अर्जुन पूरी तरह सोच-समझकर निर्णय लें.

इसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा समाज से आज यह अपेक्षा है कि वह विज्ञान की ताकत को, उसकी गतिशीलता को पूरी तरह समझे और फिर निर्णय ले कि कौन-सी दिशा में उसे बढ़ने देना है और कौन-सी दिशा में उस पर लगाम की ज़रूरत है.

इस पार्श्वभूमि में आज हमें भाषा की महत्ता को परखना है. जैसा मैंने अभी कहा, समाज से यह अपेक्षा है कि वह विज्ञान की शक्ति को समझे और उसे विधायक कार्यों में लगाये तथा विनाशक कार्यों से दूर रखे. इसके लिए यह आवश्यक है कि विज्ञान के बारे में आवश्यक जानकारी समाज को सदैव मिलती रहे और इस बात से सभी सहमत होंगे कि इस समाज-प्रबोधन का माध्यम समाज की 'अपनी' भाषा हो.

भारत जैसे विशाल देश के लिए इस कार्य में हिंदी की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण है यह अलग से समझाने की ज़रूरत नहीं. पिछले 10-15 वर्षों में भारत की विकसित देश बनने की ओर तेज़ी से दौड़ जारी है. ऐसी हालत में विज्ञान तथा तकनीक से मिलने वाले लाभों की अच्छी जानकारी मिलनी आवश्यक है. साथ ही साथ विज्ञान तथा तकनीक के अनुसंधानों से जुड़े दुष्परिणामों की भी जानकारी उपलब्ध होनी आवश्यक है.

पुराने जमाने में भक्ति रस प्रधान सुखी जीवन के उद्देश्य से सूरदास, तुलसीदास जैसे संत साहित्यकारों ने लोक-प्रबोधन किया. इस जमाने में विज्ञान को जनसाधारण तक पहुंचाने का काम हिंदी को करना है.

यद्यपि जिस पार्श्वभूमि में मैंने इस आवश्यकता पर ज़ोर दिया है, उसके लिए आम सहमति अपेक्षित है, फिर भी ऐसी भी कुछ लोगों की धारणा है कि जागतिक भाषा के रूप में अंग्रेज़ी भाषा हिंदी के बजाय अधिक प्रभावशाली होगी.

मैं इस धारणा से सहमत नहीं हूं. मेरी दलील के समर्थन में मैं एक किस्सा सुनाता हूं— आधुनिक विज्ञान के शिखर तक पहुंचे हुए वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन का. ऐसा कहा जाता है कि यदि आइन्स्टाइन अपने विषय पर किसी अन्य वैज्ञानिक के साथ चर्चा कर रहे होते थे तो चर्चा का आरम्भ अंग्रेज़ी भाषा में होता था. पर चर्चा के दौरान अगर आइन्स्टाइन बहुत उत्तेजित हो जाते तो वे अपनी मातृभाषा जर्मन में बोलने लगते थे. अपनी मातृभाषा में कोई भी व्यक्ति समझने-समझाने का काम सर्वाधिक कुशलता से कर पाता है.

तो हिंदी भाषा को इस कर्तव्य को निभाने के लिए आगे आना होगा. जहां तक हिंदी भाषी राज्यों का सवाल है, वहां तो हिंदी का यह 'जानकारी की भाषा' जैसा कर्तव्य तो रहेगा ही, पर अन्य राज्यों में भी हिंदी की विज्ञान समझने-समझाने की क्षमता उपयोगी साबित होगी, क्योंकि वहां की भाषाएं हिंदी से मिलने वाली जानकारी का लाभ उठा सकती हैं. पर इस भूमिका को निभाने के लिए हिंदी को और हिंदी भाषियों को अपने दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाना होगा.

यदि हिंदी को विज्ञान समझाने तथा समझने की भाषा बनानी है तो उसमें विस्तार होना आवश्यक है. विज्ञान और तकनीक की देनों का वर्णन करने के लिए सौ साल पहले की हिंदी पर्याप्त नहीं होगी. रेडियो, टेलीफोन, मोटरकार, टूथपेस्ट आदि असंख्य चीज़ों के नाम हम रोज़ के सम्भाषण, वर्णन, पठन आदि में लेते हैं. उनके लिए अनुवादात्मक हिंदी शब्द बनाना मेरे विचार से व्यर्थ का परिश्रम है. रेलवे सिग्नल के लिए 'लौह चक्रगामिनी गमनागमन दर्शक' यद्यपि सही कहा जा सकता है, तो भी उचित कदापि नहीं.

जब मैं स्कूल में पढ़ता था, मेरी पाठ्यपुस्तकों की हिंदी उर्दू शब्दों से मिश्रित हुआ करती थी. मुंशी प्रेमचंद की कहानियों या उपन्यासों की हिंदी पढ़ने में जो मज़ा आता था वह उन शब्दों के संस्कृत अनुवाद डालकर की गयी 'परिष्कृत' भाषा से नहीं आता. आज बड़े परिश्रम से उस हिंदुस्तानी का संस्कृतीकरण करके बनायी भाषा कृत्रिम लगती है.

अंग्रेज़ी शब्दकोश खोल के देखें, उसमें आप हिंदी भाषा से लिए शब्द भी पायेंगे. पराये शब्दों के इस्तेमाल से भाषा अपवित्र नहीं होती बल्कि अधिक तगड़ी बनती है. इसलिए बदलते माहौल में नये शब्दों को, चाहे वे किसी भी भाषा से हों पर सर्व साधारण रूप से इस्तेमाल किये जाते हों— अपने शब्द भंडार में समा लेना हिंदी के लिए भी आवश्यक है.

विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों के लिए भारतीय भाषाओं में संस्कृतावलम्बी नये शब्द बनाये जाते हैं. लेकिन यदि ऐसे शब्द साधारण बातचीत में इस्तेमाल न होते हों तो यह परिश्रम क्या व्यर्थ नहीं हुआ? इसके अलावा विभिन्न भारतीय भाषाओं में— संस्कृत से

उत्पन्न होते हुए भी— पारिभाषिक शब्दों की एक-सूत्रता नहीं. उदाहरण के लिए हिंदी और मराठी के कुछ शब्द देखें. एटम को हिंदी में परमाणु और मराठी में अणु कहते हैं. मॉलेक्यूल को हिंदी में अणु तो मराठी में रेणु कहते हैं. अखिल भारतीय स्तर पर विशेषज्ञों की समिति सभी संस्कृत से निकली भाषाओं के लिए एक पारिभाषिक शब्द सूची बनाती तो यह सम्भ्रम नहीं होता.

पर मेरे विचार से हिंदी को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत वैज्ञानिक या तकनीकी शब्द अपनाने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए. इससे हिंदी भाषियों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर होने वाली खोजों, घटनाओं आदि की जानकारी लेने में सुभीता होगा. ऐसी भूमिका हिंदी को कमजोर नहीं बल्कि सशस्त बनायेगी.

आज की जीवनचर्या विविध प्रसार माध्यमों से अलिप्त नहीं रह सकती. समाचार, घटनाओं पर टिप्पणियां, राजनीतिक तथा सामाजिक मुद्दों पर चर्चा, खेल के विविध रूप इत्यादि पर रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र आदि जो समय खर्च करते हैं, उसमें हिंदी का भी सहभाग रहना ज़रूरी है. ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि में इन माध्यमों का योगदान भी अगर केवल अंग्रेज़ी में होने लगे तो यह हिंदी के लिए घातक सिद्ध होगा.

इस संदर्भ में यह एक अच्छी घटना है कि डिस्कवरी जैसे जानकारी के चैनल पर अंग्रेज़ी कार्यक्रमों को हिंदी में 'डब' किये रूप में भी दिखाया जाता है. पर इससे भी बढ़कर यह होगा कि ऐसे कार्यक्रम भारत में बनें और मूल हिंदी में बनें. चूंकि हिंदी जनता की भाषा है, ऐसे कार्यक्रम हिंदी भाषियों को अधिक रोचक लगेंगे.

इस संदर्भ में मैं अपने दो अनुभव यहां सुनाना चाहूंगा. जब कार्ल सेगन की मशहूर शृंखला 'कॉस्मॉस' भारत में दिखायी गयी तब कार्यक्रम प्रसारक की विनती पर मैंने हर कड़ी के आरम्भ में उस दिन के कार्यक्रम का सारांश हिंदी में सुनाया. महज पांच मिनट के इस आख्यान के बारे में मुझे अनेक श्रोताओं से प्रतिक्रिया आयी कि आपकी प्रस्तावना की बदौलत हमें कार्यक्रम समझने में सुविधा हुई. तत्पश्चात मैंने कोई 17 कड़ियों का एक कार्यक्रम 'ब्रह्मांड' नाम से बनाया जो हिंदी में था और दूरदर्शन पर कई बार दिखाया गया. यहां भी मुझे असंख्य श्रोताओं से अनुकूल प्रतिक्रियाएं मिलीं. मेरा दूसरा अनुभव था 'द ऐस्ट्रोनोमिकल सोसायटी ऑफ़ इंडिया' की राष्ट्रीय सभा का, जो 1981 में गोरखपुर में आयोजित की गयी थी. मुझे उसमें एक सार्वजनिक व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया गया था. सोसायटी की प्रथा के अनुसार यह व्याख्यान अंग्रेज़ी में होने वाला था. पर जब व्याख्यान का समय आया, लेक्चर हॉल श्रोताओं से ठसाठस भर गया था. उसे लक्ष्य कर व्याख्यान के आयोजकों ने मुझसे विनती की— ''ये सब श्रोता अधिकांश हिंदीभाषी हैं. यदि आप हिंदी में बोलें तो श्रोताओं को वह बहुत रोचक लगेगा.'' मैंने तब तक हिंदी में एक घंटे का भाषण नहीं दिया था, न तो मैं हिंदी में बोलने का अभ्यास करके आया था. फिर भी मैंने यह आह्वान स्वीकार किया. अब मैंने शुरुआत की— ''देवियो और सज्जनो...'' तब जो तालियों की गड़गड़ाहट हुई जो आज भी मेरे कानों में गूंज रही है.

ये सब बातें कहने-सुनने पर एक अहम मुद्दा है कम्प्यूटरों से जुड़ा. जो भाषा आज कम्प्यूटर के उपयोग में हाथ बंटा सकेगी वही भाषा आज के माहौल में टिकेगी और पनपेगी. हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का इस्तेमाल कम्प्यूटर पर लेखन के लिए, ईमेल के माध्यम स्वरूप, वेबसाइट पर जानकारी की खोज इत्यादि रूपों में होने लगा है. एक कठिन प्रश्न लिपियों का है/था, जो अब अधिकतर उपयोगों के लिए सुलझ गया है.

पर केवल सॉफ्टवेयर निर्माण पर्याप्त नहीं. कम्प्यूटर हिंदी के इस्तेमाल के लिए अब सुविधाएं प्रदान कर रहा है, पर उनको काम में लाने की ज़िम्मेदारी हिंदी भाषिकों की है. इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए जनजागरण और जनशिक्षा की आवश्यकता है. ऐसे सभी लोगों को, जो हिंदी से आत्मीयता रखते हैं, इस बात की जानकारी मिलनी चाहिए कि कम्प्यूटर में क्या-क्या सुविधाएं उपलब्ध हैं जिनका वे फायदा उठा सकते हैं.

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस के आरम्भ में लिखा—

स्वांतः सुखाया तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबंधमतिमंजुलमातनोति.

यद्यपि यह ग्रंथ रचना 'स्वांतः सुखाय' की गयी, गोस्वामीजी ने रामायण, राममहिमा, रामभक्ति आदि का प्रसार किया और जनसाधारण में एक आत्मविश्वास की भावना भरी सुविचार का प्रचार किया. भटकती जीवन शैली का दिशा दर्शन किया.

अधिकांश वैज्ञानिक ऐसा कहेंगे कि वे विज्ञान के क्षेत्र में शोध कार्य और शिक्षादान स्वांतः सुखाय कर रहे हैं. अपने शैक्षिक उद्देश्यों को हासिल करने के सिवाय उनका जनसाधारण से कोई लेना-देना नहीं.

मेरे विचार से यह भूमिका आज के काल में उचित नहीं. जैसा मैंने प्रारम्भ में कहा था, समाज एक स्थित्यंतर का अनुभव कर रहा है, जिसकी प्रेरक शक्ति विज्ञान में है. इस स्थित्यंतर में धनात्मक/ऋणात्मक दोनों तरह के अनुभवों का सामना उसे करना पड़ रहा है. कभी-कभी तो धनात्मक/ऋणात्मक फर्क समझ में भी नहीं आता. ऐसे अवसरों पर समाज को प्रबोधन की आवश्यकता है, जानकारी की आवश्यकता है, जो उसे वैज्ञानिक ही दे सकते हैं. कम से कम योग्य निर्णय लेने के लिए सम्बंधित तथ्य कौन-कौन से हैं इतना तो वैज्ञानिक स्पष्ट कर सकते हैं, ताकि समाज सोच-समझकर सही निर्णय ले.

अतः विज्ञान और समाज के बीच की खाई उथली और संकरी बनाने की ज़िम्मेदारी वैज्ञानिकों की है. जनसाधारण की भाषा में विज्ञान की खूबियां, उसकी खोजों का महत्त्व, तकनीक के धनात्मक/ऋणात्मक पार्श्वप्रभाव आदि जानकारी देने में वैज्ञानिकों को हाथ बंटाना चाहिए. हाथी दांत की मीनार से उतरकर वैज्ञानिक जनसाधारण से वार्तालाप करने जाएं! यह रोज़-रोज़ की बात नहीं. हफ्ते में एक दिन भी इस विज्ञान प्रसार के लिए कल्याणकारी साबित होगा.

(हिंदी भवन, भोपाल में 'शरद व्याख्यानमाला' में दिया गया सम्पादित वक्तव्य)

❑